P: ISSN No. 2231-0045 RNI No. UPBIL/2012/55438 VOL.-8, ISSUE-4 May -2020
E: ISSN No. 2349-9435 Periodic Research

स्मृति ग्रन्थों में आश्रम व्यवस्था
Ashram Arrangement in Memory Books

Paper Submission: 02/05/2020, Date of Acceptance: 27/05/2020, Date of Publication: 30/05/2020

अनिला पुरोहित
सह आचार्य,
इतिहास विभाग,
राजकीय डूंगर महाविद्यालय,
बीकानेर, राजस्थान, भारत

इन्द्रा विश्नोई
सह आचार्य,
दर्शनशास्त्र विभाग,
राजकीय डूंगर महाविद्यालय,
बीकानेर, राजस्थान, भारत

सारांश

प्राचीन भारत की प्रमुख देन आश्रम व्यवस्था है जिससे व्यक्ति के जीवन का सुसंकृत, सुगठित और सुव्यवस्थित किया जाता था। धर्मशास्त्रकार व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के जीवनों को समान महत्व प्रदान करते थे। जीवन का लक्ष्य सिर्फ भोग ही नहीं था वरन् योगमय/आध्यात्मिक मार्ग अपनाते हुए मोक्ष की ओर उन्मुख होना माना गया है। इसके लिये वर्णाश्रम धर्म की अवधारणा विकसित की गयी। इसमें कर्म–धर्म–योग–भोग–त्याग का समन्वय किया गया है। आश्रम व्यवस्था में जीवन का विभाजन वैज्ञानिक तरीके से व्यक्ति की मनोवृति के अनुसार किया गया है। जीवन की क्रमबद्धता को सुनियोजित तरीके से वर्गीकृत किया गया है। आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम प्रमुख हैं।

The main gift of ancient India is the ashram system whereby the life of a person was well-organized, organized and organized. Theologians used to give equal importance to both temporal and ecclesiastical lives of a person. The goal of life was not just enjoyment, but it is considered to be oriented towards salvation by following the yogic / spiritual path. For this, the concept of Varnashrama Dharma was developed. It has coordinated karma-dharma-yoga-bhoga-renunciation. Life in the ashram system is divided according to the mentality of the person in a scientific way. The order of life is classified in a systematic way. Brahmacharya, grihastha, vanaprastha and sannyas ashram are prominent in the ashram system.

मुख्य शब्द : ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम।
Brahmacharya, Grihastha, Vanaprastha and Sannyas Ashram

प्रस्तावना

आश्रम शब्द संस्कृत की श्रम धातु से बना है। इसके अन्तर्गत मनुष्य अपने जीवन में श्रमपूर्वक विभिन्न आश्रमों के कार्य सम्पन्न करता था। एक आश्रम पूर्ण करने के साथ आगे के आश्रम के लिए तैयार हो जाता था। आश्रम उद्योग व प्रयास का प्रतीक था। आश्रमों को जीवन के अंतिम ध्येय मोक्ष तक की जाने वाली जीवन यात्रा के मध्य का विश्राम–स्थल मानना चाहिए।[1] स्मृति युग तक आते–आते आश्रम व्यवस्था का पूर्ण विकास हो चुका था। स्मृति साहित्य में प्रत्येक आश्रम के आचार संबंधी नियमों की व्याख्या की गयी है। प्रारम्भ में आश्रमों की संख्या तीन थी– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम (एक माना गया)।[2] मनु ने भी एक स्थल पर तीन आश्रमों का उल्लेख किया है। लेकिन बाद में कहा गया है कि आश्रमों को पच्चीस–पच्चीस वर्ष के चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।[3] ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ को ही सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित किया गया था। वस्तुतः वानप्रस्थ आश्रम सन्यास का ही प्रारम्भिक रूप था, जिसके अंतर्गत व्यक्ति अध्यात्म और त्याग को अपनाकर धार्मिक कृत्य सम्पन्न करता था।[4] ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करता था और अपनी क्षमता व बुद्धि का विकास करता था। गृहस्थाश्रम में वह विवाह करके अपने पारिवारिक व सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करता था। संतानोत्पति के साथ–साथ यज्ञों का संपादन करता था। स्मृतिकारों ने सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम को अपेक्षाकृत अधिक महत्ता दी है। सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर निर्भर करते थे। मनु के अनुसार जिस प्रकार प्राणवायु का आश्रम प्राप्त कर सभी जीव जीते हैं उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रम प्राप्त कर सभी आश्रम (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास) चलते हैं– "यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्नवः तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।"[5]

अध्ययन का उद्देश्य (Aim of the study)

इस शोध कार्य का उद्देश्य इतिहासविदों एवं शोधार्थियों को स्मृति ग्रन्थों में आश्रम व्यवस्था की परम्परा एवं विकास, इतिहास लेखन में अवदान तथा अन्य क्षेत्रों के इतिहास लेखन में स्मृति ग्रन्थों की उपयोगिता से भलीभांति अवगत करवाना है। वर्तमान समय में जहां राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्र में अस्थिरता, बिखराव, साम्प्रदायिकता, जातिवादी संकीर्णता का साम्राज्य है, सांस्कृतिक प्रदूषण बढ़ रहा है, उस समय ऐसी चिंतनधारा व व्यवस्था से परिचित होना प्रासंगिक होगा, जो युग–युग से भारतीय जीवन को दिशा देती आ रही हो, जिसने प्राचीन भारतीय समाज को शायात्मकता प्रदान की हो।

साहित्यावलोकन (Review of Literature)

पुरूषार्थ

प्राचीन भारत में चार पुरूषार्थों को जीवन का आधार माना गया था– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। आश्रम व्यवस्था व पुरूषार्थ का घनिष्ठ संबंध था। चारों पुरूषार्थों से व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यतित्व का निर्माण होता था। धर्मशास्त्रकारों ने व्यक्ति के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि आवश्यक मानी थी। इन्हें समुचित ढ़ंग से आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत ही पूर्ण किया जा सकता था। ब्रह्मचर्य में व्यक्ति धर्म के स्वरूप को समझ लेता था जिससे जीवन पर्यन्त वह उसका पालन कर सके। अर्थ और काम की पूर्ति वह गृहस्थाश्रम मे रहकर करता था। सन्तानोत्पति व धनोपार्जन से ही उसका गृहस्थ जीवन सफल बनता था। वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम के दौरान वह मोक्ष के लिये प्रयासरत रहता था। इस प्रकार पुश्षार्थ की अभिव्यक्ति आश्रम व्यवस्था में ही होती थी।

चार आश्रम

मनुस्मृति में चार आश्रमों का उल्लेख हुआ है– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति।[6] याज्ञवल्क्य स्मृति में भी चार आश्रम माने गये हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति की शुरूआत ही वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या से हुई है– मुनियों ने याज्ञवल्क्य से वर्णों, आश्रमों तथा अन्यों के धर्मों के व्याख्या करने का कहा।[7] ब्राह्मणों के लिये इनका पालन करना आवश्यक माना गया था। स्मृति काल तक आते–आते चार आश्रम पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुके थे।

ब्रह्मचर्य आश्रम

'ब्रह्मचर्य' दो शब्दों 'ब्रह्म' और 'चर्य' से बना है। ब्रह्म का अर्थ है 'वेद' अथवा महान् और 'चर्य' का अर्थ है 'विचरण अथवा 'अनुसरण करना'। ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ 'ब्रह्म के मार्ग पर चलना'। व्यक्ति का बौद्धिक व शैक्षणिक विकास ब्रह्मचर्याश्रम से होता था। याज्ञवल्क्य ने 'ब्रह्मचारी प्रकरण' में' ब्रह्मचर्य के दायित्वों का उल्लेख किया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी के दो प्रमुख उद्देश्य थे– बुद्धि का विकास और चरित्र का निर्माण। उपनयन संस्कार के बाद बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था। स्मृतियों में भी उन सब धार्मिक विद्याओं का वर्णन है जो उपनयन संस्कार के समय वैदिक काल में होती थी।[8] स्मृतिकारो ने उपनयन संस्कार के समय ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्य के बालकों की आयु क्रम से आठ, ग्यारह और बारह वर्ष लिखी है। याज्ञवल्क्य भी इस मत से सहमत हैं लेकिन वे आगे कहते हैं कि कुल की प्रथानुसार और सुविधानुसार संस्कार किसी भी अवस्था में हो सकता है। मनुस्मृति में उपनयन संस्कार के लिये अधिक से अधिक आयु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये क्रमशः सोलह, बाईस और चौबीस वर्ष निर्धारित की है। मनु व याज्ञवल्क्य दोनों ही इसके बाद होने वाले उपनयन संस्कार की निंदा करते हैं। ये व्यक्ति व्रात्य कहलाते थे और उन्हें गायत्री मंत्र पढ़ने का अधिकार नहीं था।[9] इन व्यक्तियों को पतित और सर्वधर्मों से बहिष्कृत माना जाता था।

उपनयन संस्कार के आद व्यक्ति द्विज माना जाता था अर्थात उसका दूसरा जन्म होता था। पहला जन्म माता से और दूसरा उपनयन से होता था। कहा भी गया है – 'जन्मना जायते शूद्र संस्काराद्द्विज उच्यते।' गुरू शिष्य का उपनयन संस्कार सम्पन्न कर उसे वेद पढ़ाता था और शौच एवं आचारों को सिखाता था।[10] ब्रह्मचारी को प्रतिदिन प्रातः स्नान, मंत्रोचारण, प्राणायाम,सूर्य का उपस्थान और गायत्री जप करना चाहिए। उसे दो बार प्रातः एवं सायं उपायना करनी पड़ती थी। विद्यार्थी दण्ड, कृष्णमर्ग चम, यज्ञोपवीत और मेखला को धारण करता था। वह जीवनयापन के लिये ब्राह्मणों के घर से भिक्षा मांग कर लाता था। उसके लिये मधु, मांस, जूठा (गुरू के अतिरिक्त अन्न का) खाना वर्जित था। ब्रह्मचारी को कठोर वचन, प्राणिवध, सूर्य को देखना (उदय या अस्त के समय) अश्लील या असत्य भाषण, परदोषान्वेषण का त्याग करना चाहिये।

मनु ने ब्राह्मण के लिये सन का वस्त्र, क्षत्रिय के लिये रेशम का और वैश्य के लिये ऊन का वस्त्र पहनने की अनुमति दी है।[11] ब्रह्मचारी न तो अपने शरीर पर किसी प्रकार के तेल आदि की मालिश करता था और न संगीत, वाद्य, नृत्य, जुआ और गपशप में भाग लेता।[12] ब्रह्मचारी आचार्य का बहुत आदर करता था। याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कहा है कि ब्रह्मचारी को स्वाध्याय करने के लिये आचार्य की सेवा करनी चाहिये। सदा सावधानी से उसके कथन को सुनना चाहिये और मन, वचन और शरीर से गुरू के हित की उन्नति का प्रयत्न करना चाहिए। उसे अन्न का सम्मान करते हुए वाणी पर संयम रख भोजन करना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने गुरू व आचार्य में भेद किया है – जो गर्भाधानादि उपनयनान्त संस्कार सम्पन्न करके ब्रह्मचारी को ज्ञान दे वह गुरू होता है और जो (केवल) उपनयन संस्कार करके वेद (ज्ञान) दे वह आचार्य होता है। वेद के एक भाग (मन्त्र या ब्राह्मण या अंग) का ज्ञान देने वाला उपाध्याय कहा जाता है और जो यज्ञ को करता है ऋत्विक कहा जाता है।

कन्याओं का उपनयन संस्कार वैदिक काल में निर्धारित आयु में होता था, उनकी शिक्षा का समुचित प्रयत्न किया जाता था। 400 ई.पू. के बाद सम्भवतः कन्याओं के ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने की उचित व्यवस्था नहीं रही। मनु ने तो उनका विवाह संस्कार ही उनका उपनयन संस्कार माना है। पति ही कन्या का आचार्य है और पति सेवा ही उसका आश्रम निवास और गृहस्थी के कार्य ही दैनिक धार्मिक अनुष्ठान थे–

"वैवाहिको विधिः स्त्रीणा संस्कारो वैदिको मतः।
पतिसेवा गुरौर्वासौ गृहार्थोग्नि परिक्रिया ।।"[13]

स्मृतिकारों ने व्यवस्था दी है कि बालिकाओं के उपनयन में वैदिक मंत्र नहीं पढ़ने चाहिये। इससे संकेत मिलता है कि कन्या के उपनयन संस्कार का प्रचलन अवश्य था व उन्हें शिक्षा घर पर ही प्रदान की जाती थी। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति की मानसिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक उन्नति के प्रयास किये जाते थे।

गृहस्थ आश्रम

भारतीय समाज में गृहस्थ आश्रम को सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण माना गया है। मनु ने अन्य सभी आश्रमों को इनके ऊपर निर्भर माना है। सम्पूर्ण समाज इसी आश्रम की धुरी के ऊपर स्थिर था। सृष्टि की निरंतरता को इसी आश्रम के माध्यम से जारी रखा जा सकता था, साथ ही इसके द्वारा अन्य आश्रमों को पोषण भी होता था। सभी आश्रमों में गृहस्थ को ही श्रेष्ठ माना गया हे क्योंकि वह इन तीनों का (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा सन्यासी) का पालन करता है। मनु कहते हैं कि जिस प्रकार से सभी नदी और नद की स्थिति समुद्र में होती है उसी प्रकार सभी आश्रम वाले गृहस्थ में ही आश्रय प्राप्त करते हैं। 'अर्थ' और 'काम' की सिद्धि का माध्यम यह आश्रम था। यह केवल व्यक्ति के दैहिक सुख के लिए नहीं था वरन् वह समाज के प्रति भी अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करता था और अपनी आध्यात्मिक उन्नति करता था।

मनु और याज्ञवल्क्य ने गृहस्थों का वर्गीकरण चार प्रकार से किया है– कुसूलधान्यक, कुंभीधान्यक, याहित तथा अश्वस्तनिक।[14] कुसूलधान्यक उसे कहते हैं जिसके पास परिवार तथा आश्रितों का भरण–पोषण करने के लिये तीन वर्ष तक की सामग्री हो। कुंभीधान्यक के पास केवल तीन माह तक के लिये ही सामग्री होती थी, त्रयाहिक के पास तीन दिन के लिये होती थी और अश्वस्तनिक के पास केवल एक दिन की होती थी। मनु व याज्ञवल्क्य दोनों ने उपर्युक्त वर्गीकरण में पूर्व की अपेक्षा पर को अधिक श्रेष्ठ माना है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ वर्ग वही है–अश्वस्तनिक जिसके पास दूसरे दिन के लिये धान्यादि का संचय न हो। त्याग व अपरिग्रह की प्रशंसा की जाती थी। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार भी गृहस्थों को यम और नियम दोनों का पालन करना चाहिये। ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य, निश्छलता, अहिंसा, अस्तेय, इंद्रिय दमन यम हैं तथा स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, उपस्थनिग्रह, गुरूसुश्रुसा, शौच, अप्रमाद नियम हैं।[15]

"ब्रह्मचर्य दया क्षान्तिदानं सत्यकल्कला।
अहिंसा स्नेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः।।
स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थ निग्रहा।
नियमा गुरूशुश्रुषा शौचाक्रोधाप्रमादता।।"

याज्ञवल्क्य ने गृहस्थधर्म प्रकरण (याज्ञ. 1/97–128) में गृहस्थों के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। माता–पिता, अतिथि, भाई, सधवा स्त्रियॉं, मामा, वृद्ध बालक, रोगी, आचार्य, वैद्य, उपजीवी, बांधव, ऋत्विक, पुरोहित, संतान, पत्नी, नौकर, सहोदर भाईयों से विवाद का त्याग करना चाहिए। ऐसा गृहस्थ सभी लोकों पर विजय प्राप्त करता है।[16]

मनुस्मृति में कहा गया है कि आश्रम के पालन से मनुष्य धर्म का अर्जन करता था। परलोक में सहायता के लिये माता, पिता, पुत्र, मार्या व संबंधी नहीं होते। प्राणी अकेला ही जन्म लेता है, मरता है और अकेला ही अपने पाप–पुण्य का फल भोगता है, केवल धर्म ही उसके साथ जाता है। धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति ही इस आश्रम का उद्देश्य था।[17]

जन्म के पहले से लेकर मृत्यु तक के दौरान कुछ संस्कार गृहस्थ आश्रम में ही सम्पन्न किये जाते थे। व्यक्ति के जन्म से मरण के मध्य महत्वपूर्ण घटनाओं के अवसर पर ये आयोजित किये जाते थे। इसके माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास किया जाता था। पुरूषार्थों की पूर्णताः, ऋणों से मुक्ति, महायज्ञों का सम्पादन, पारिवारिक सौमनस्य, भौतिक सुखों की तुलना में आध्यात्मिक सुख की श्रेष्ठता, व्यक्तिगत उत्थान, सर्वांगीण व्यक्तित्व का निर्माण, मानवीय महत्ता, मानवतावादी जीवन दर्शन की उपलब्धि आदि गृहस्थ आश्रम में ही सम्भव थीं।[18]

वानप्रस्थ आश्रम

वानप्रस्थ आश्रम गृहस्थाश्रम के बाद आता था, जबकि व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को सम्पन्न कर लेता था। वन की ओर प्रस्थान करना वानप्रस्थ था। प्राचीन भारतीयों ने वनों की महत्ता को स्वीकार किया था और प्रवृति से सापीप्य बनाए रखने के लिये वानप्रस्थ आश्रम का निर्माण किया। मनु कहते हैं कि जब व्यक्ति के सिर के बाल श्वेत होने लगें, शरीर पर झुर्रियां पड़ने लगे और उसके पौत्र हो जायें तब वह वानप्रस्थ होकर जंगल की ओर चल दे।[19] वानप्रस्थ में व्यक्ति अकेला भी जा सकता था और पत्नी के साथ भी। मनु इस संदर्भ में कहते हैं कि ग्राम आहार (धान, यव आदि) तथा परिम्छद (गौ, घोड़ा, हाथी, शैया आदि गृह सम्पति) को त्यागकर वन में जाने की इच्छा न करने वाली पत्नी को साथ में लेकर वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए।[20] वानप्रस्थगामी अपने साथ अग्निहोत्र की सामग्री को भी ले जाता था क्योंकि इस आश्रम में भी उसे पंच यज्ञों को संपादित करना पड़ता था। याज्ञवल्क्य ने वानप्रस्थ प्रकरण में भी वानप्रस्थ आश्रम का वर्णन किया है। वानप्रस्थ में अधिक अत्र संचय का विरोध किया गया है। वानप्रस्थी आत्मसंयमी हो तीन बार स्नान करता था। दांतों से छीलकर और फूट कर खावे। अपने समय में पके फलों को खावे अथवा पत्थर पर कूट कर खावे। अथवा पक्ष बीतने पर भोजन करे अथवा मास बीतने पर भोजन करे या दिन बीतने पर भोजन करे। रात्रि में पवित्र होकर भूमि पर सोवे। दिन घूमते हुए व्यतीत करे अथवा बैठकर या चलकर बितावे अथवा योगाभ्यास करते हुए बितावे।[21] वानप्रस्थी को कठोर तप करना पड़ता था तथा अल्पाहारी रहना पड़ता था।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि फल–फूल से जीवन यात्रा न चले तो वह वानप्रस्थों के घर से भिक्षा मांग सकता था अथवा ग्राम से अन्न लाकर वाणी पर संयम कर आठ ग्रास भोजन करे अथवा वायु का भक्षण करते हुए (उपवास रख कर) पूर्व उत्तर दिशा की ओर तब तक ले जब तक शरीर का क्षय न हो जाये।[22] स्पष्ट है कि यह आश्रम व्यक्ति को परमार्थिकता का बोध कराता था और उसे निष्काम और निवृत कर्म मार्ग की ओर ले

जाता था। पंचाग्नितप, भूमिशयन, अल्पाहार उसके दैनिक कृत्य थे। बाद में वह अग्नि का भी त्याग कर देता था। वानप्रस्थी केवल अपने द्वारा बनाए हुए नमक का ही प्रयोग कर सकता था।[23] याज्ञवल्क्य के अनुसार तो उसे ऐसी भूमि पर भी चलना वर्ज्य था जो हल से जोती गयी हो। वानप्रस्थी एक दिन, एक मास, छह मास अथवा एक वर्ष तक खाने योग्य नीवार आदि का संग्रह कर सकता था, परन्तु प्रत्येक वर्ष के आश्विन मास में उन्हें पूर्व संचित सब कुछ (अन्न, वस्त्र, कंद आदि) का त्यागना चाहिए।

वानप्रस्थी का जीवन त्याग, साधना व तप का था। उसे सुख–दुख को समान समझना चाहिये। सबसे मित्रभाव से रहना चाहिये और दानशील बनें और सभी जीवों पर दया करें। मनु ने वानप्रस्थ के दौरान पंच महायज्ञ व अतिथि–सत्कार को करने का विधान दिया है, जो भी भोज्य पदार्थ हो उसमें से भिक्षा दें और अतिथियों को संतुष्ट करें। वानप्रस्थी का यह तप व ज्ञान से सम्पन्न उसके निवृति मूलक व्यक्तित्व का निर्माण करता था और उसे मोक्ष प्राप्ति के योग्य बनाता था।

सन्यास आश्रम

वानप्रस्थ आश्रम के बाद सन्यास आश्रम आरम्भ होता था। इसमें व्यक्ति अपने को सांसारिक मोहमाया से पूर्णतः पृथक कर लेता था और तपस्वी जीवन व्यतीत करने का अभ्यास कर लेता था। सन्यासी के लिये 'परिव्राजके', 'यति' शब्द का प्रयोग ही स्मृतियों में हुआ है। व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को सौ वर्ष का माना गया और उसे चार बराबर भागों में विभाजित किया गया। प्रत्येक आश्रम के लिये पच्चीस वर्ष का समय निर्धारित किया गया। ब्रह्मचर्य आश्रम पच्चीसवें वर्ष तक, गृहस्थ आश्रम पचासवें वर्ष तक, वानप्रस्थ पचहरतवें वर्ष तथा सन्यास सौवें वर्ष तक माना गया।

याज्ञवल्क्य ने 'यतिधर्म प्रकरण' में सन्यासाश्रम का उल्लेख किया है। रोमिला थापर ने सन्यास अथवा योग की परम्परा को प्राक्इतिहासकालीन माना है। मनु के अनुसार अपनी वय के तीसरे भाग को वानप्रस्थ में बिताकर परिव्राजक बनना चाहिए।[24] सन्यास आश्रम में व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति के प्रयास करने पड़ते थे। मनु कहते हैं कि मनुष्य तीन ऋणों (देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण) को सम्पन्न करने के बाद ही अपने मन को मोक्ष कर्म की ओर लगाये। बिना इन ऋणों को पूरा किये सन्यास अपनाने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है।[25] ता कौटिल्य ने भी इस प्रकार के व सामाजिक दायित्वों को भी समान रूप से महत्व दिया है। प्राचीन भारतीयों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि वे सिर्फ आध्यात्मिक पक्ष को ही प्रमुखता देते थे। सन्यासी के लिये मनु ने एकाकी व निरपेक्ष जीवन व्यतीत करने के निर्देश दिये हैं। मनु ने उसे ही सन्यासी स्वीकार किया है जो लौकिक अग्नि से रहित, गृहहीन, शरीर से रोगग्रस्त होने पर भी अपनी चिकित्सा का प्रबंध न करने वाला, स्थिर बुद्धि, ब्रह्म का चिन्तन करने वाला और ब्रह्म मे ही भाव रखने वाला हो। इन्हीं गुणों से सम्पन्न सन्यासी गांव में भिक्षा के लिये जा सकता था।[26] वर्षा ऋतु में ग्राम में निवास की वैकल्पिक व्यवस्था का समर्थन किया गया है। मनु व याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में सन्यासियों के प्रभेदों का उल्लेख नहीं किया गया है जो कि पूर्वकाल में प्रचलित थे। इससे यह संकेत मिलता है कि आश्रम व्यवस्था में शिथिलीकरण आ गया था। याज्ञवल्क्य के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने उल्लेख किया है कि व्यक्ति बिना वानप्रस्थ के सीधा सन्यासाश्रम में भी जा सकता था। वह भिक्षा प्राप्त कर जीवनयापन करता था। उसे अपनी इन्द्रियों को वश में करना पड़ता था तथा बिना किसी लोभ के रहना पड़ता था। उसे अपनी इन्द्रियों को वश में करना पड़ता था तथा बिना किसी लोभ के रहना पड़ता था। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ब्राह्मण इन्द्रिय समूह को नियंत्रित कर राग और द्वेष का त्याग कर प्राणियों में अपकार का भय उत्पन्न करने को छोड़कर अमर हो जाता था अर्थात मुक्त हो जाता था। अंतःकरण की शुद्धि के बाद सन्यासी ज्ञान प्राप्त करता था। उसे ध्यान और योग से चित्त की एकाग्रता और चित्तवृत्ति निरोध सत्मा के स्वरूप को पहचानना पड़ता था। याज्ञवल्क्य इस संदर्भ में आत्मा के स्वरूप को पहचानना पड़ता था। याज्ञवल्क्य इस संदर्भ में आत्मा के स्वरूप पर भी चर्चा करते हैं। योगसिद्धि की भी विस्तृत विवेचना की गयी है। योगसिद्धि के बाद ही देह का त्यागकर योगी अमरत्व प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मत्व की प्राप्ति करता है।[27] याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सभी कर्मों का त्याग कर वन में निवास करते हुए किसी वेद का अभ्यास करते हुए, बिना याचना के मिले अन्न का भोजन करते हुए, अल्पाहारी व्यक्ति परम सिद्धि प्राप्त करता है। सन्यासी समाज से अलग रह कर भी संयम, तपश्यचर्या, निवृति, अहिंसा आदि से समाज को सही दिशा दिखाता था। स्मृतियों में स्त्री के लिये आश्रम व्यवस्था आवश्यक नहीं मानी गई थी। यद्यपि आश्रमों के कर्त्तव्य निर्वाह में वह पुरूष का पूर्ण सहयोग देती थी। कभी–कभी पति के साथ वानप्रस्थ अपनाती थी।

निष्कर्ष (Conclusions)

इस शोध कार्य से यह स्पष्ट होता है कि आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति व समाज दोनों की उन्नति के प्रयास प्राचीन भारतीयों ने किये। वैदिक युग से बारहवीं सदी तक के साहित्य में आश्रम व्यवस्था की विवेचना हुई है। व्यावहारिक रूप से आश्रम व्यवस्था का पालन किस हद तक होता था, यह स्पष्ट नहीं है। मानव जीवन का आश्रम व्यवस्था के रूप में विभाजन मनोवैज्ञानिक आधार रखता है। इसमें अवस्था के अनुरूप व्यक्ति की मनोवृतियों के समुचित विकास का प्रयास किया गया है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची (References)

1. *हिन्दु सोशल ऑर्गेनाइजेशन, पृ. 831*
2. *मनु, 2.40*
   त एव हि त्रयो लोकास्त एवं त्रयआश्रमा : ।
   त एव हित्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नय :।।
3. *मनु, 6.81*
   तव एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
   त एव हित्रयो वेदास्त एवोक्तासत्रयोऽग्नय
4. *डॉ. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 220*
5. *मनु, 3/77*
6. *मनु, 6.87*

7. *याज्ञवल्क्य 1!1–2*
8. *मनु, 2/36, याज्ञवल्क्य 1/38*
9. *मनु, 2/39, याज्ञवल्क्य 1/14*
10. *वही 1/16*
11. *वही 1/29*
12. *मनु, 2/177, 79, याज्ञवल्क्य 1/33*
13. *मनु, 2/56, यम 1/13*
14. *मनु, 4/7, याज्ञवल्क्य गुहस्थ धर्म प्रकरण 128*
15. *याज्ञवल्क्य 3/312–313*
16. *याज्ञवल्क्य 1/157–158*
17. *मनु, 42/239–421*
18. *मिश्र, डॉ. जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ,. 239*
19. *मनु, 6/2*
20. *मनु, 6/3*
21. *याज्ञवल्क्य 3/49–51*
22. *याज्ञवल्क्य 3/54–55*
23. *याज्ञवल्क्य 3/46*
24. *मनु, 6/33*
25. *मनु, 6/38*
26. *मनु, 6/43, याज्ञवल्क्य 3/58*
27. *वही 3/202–203*